॥ धर्म का मूल सम्यग्दर्शन है॥

आत्मधर्म

वर्ष तीसरा
अंक पांचवां

: संपादक :
रामजी माणेकचंद दोशी
वकील

भाद्रपद
२४७३

अलौकिक आत्मधर्म में पुण्य का कोई मूल्य नहीं

प्रश्न—धर्म में किसकी प्रशंसा की जाती है ?

उत्तर—धर्म में धर्मी की प्रशंसा की जाती है, उसमें पुण्य की अथवा पुण्य के फल-रुपया पैसा इत्यादि की प्रशंसा नहीं की जाती, क्योंकि धर्म, पुण्य अथवा रुपये-पैसे पर अवलम्बित नहीं है किन्तु वह धर्मी पर अवलम्बित है।

धर्मी का अर्थ है आत्मा। स्वयं अपने आत्मस्वभाव को पहचान कर उसकी महिमा गाता है और यदि विकल्प उठता है तो बाह्य में भी धर्मात्मा की ही प्रशंसा करता है। जिसे आत्मा का धर्म स्वभाव रुचता है, वह बाह्य में भी धर्मात्मा की ही महिमा गाता है और अंतरंग में निर्विकार स्वभाव की महिमा गाता है। जो पुण्य की महिमा गाता है, उसके धर्म की महिमा नहीं होती, क्योंकि पुण्य विकार है, और जिसे विकार की महिमा होती है, उसके अधर्म की महिमा होती है, और उसके अविकारी आत्मधर्म की महिमा नहीं होती। लोक व्यवहार में जो पुण्य से बड़ा होता है वह बड़ा माना जाता है, परन्तु अलौकिक धर्ममार्ग में जो आत्मा के गुणों में बड़े होते हैं, वे ही बड़े हैं। अलौकिक आत्मधर्म में पुण्य का कोई मूल्य नहीं है।

(समयसार मोक्ष अधिकार-प्रवचन से)

वार्षिक मूल्य
तीन रुपया

शाश्वत सुख का मार्ग २१ दर्शक मासिक पत्र

छुटक अंक
पांच आना

आ त्म ध र्म का र्या ल य — मो टा आं क ड़ि या — का ठि या वा ड़

मिथ्यादृष्टि

जो लज्जा, भय और बड़प्पन से भी कुत्सित देव-धर्म-लिंग की वंदना करता है, वह मिथ्यादृष्टि है; इसलिये जो मिथ्यात्व का त्याग करना चाहता है वह पहले से ही कुगुरु-कुदेव-कुधर्म का त्यागी होता है। सम्यक्त्व के २५ मल-दोषों के त्याग में भी अमूढ़दृष्टि और ६ आयतन में भी उसी का त्याग कराया है, इसलिये उसका त्याग अवश्य करना चाहिये। इन कुदेवादि के सेवन से जो मिथ्यात्व भाव होता है, वह हिंसादि पापों से भी बड़ा महान् पाप है क्योंकि इसके फल से निगोद नरकादि पर्याय प्राप्त होती है, वहाँ जीव अनंत काल तक महा संकट में रहता है और सम्यग्ज्ञान की प्राप्ति भी महा दुर्लभ हो जाती है। (मोक्षमार्ग प्रकाशक)

शास्त्रों का प्रयोजन

परम पूज्य श्री कानजी स्वामी के व्याख्यान से

१— यदि अवस्था में धर्म हो तो धर्म करना न पड़े।

२— यदि वस्तु स्वभाव में धर्म न हो तो धर्म हो ही नहीं सकता।

३— यद्यपि वस्तु स्वभाव में धर्म है किन्तु पर्याय में जिनके प्रगट न हुआ हो तो ऐसे जीव वस्तु स्वभाव की पहिचान के द्वारा पर्याय में धर्म प्रगट करते हैं।

पर्याय में 'जो विकार है, सो मैं हूँ'-ऐसी मान्यता अधर्म है, किन्तु वस्तु के स्वभाव में विकार नहीं है अर्थात् वस्तु धर्मस्वरूप है और पर्याय में अधर्म है। पर्याय में से अधर्म को दूर करके धर्म प्रगट करने के लिये पर्याय का लक्ष्य छोड़कर द्रव्यस्वभाव का लक्ष्य करना चाहिये। इसलिये समयसार में अभेद द्रव्यदृष्टि को प्रधान करके और भेद को गौण करके उपदेश दिया है। भेद के गौण करने को व्यवहार और अभेद के मुख्य करने को निश्चय कहा है।

आगम ग्रंथ और अध्यात्म ग्रंथ की कथन शैली

आगम ग्रन्थों में छहों द्रव्यों का स्वरूप बतलाने का प्रयोजन है, उसमें कहीं अभेद को प्रधान करके कथन होता है और कहीं भेद को प्रधान करके कथन होता है। अभेद को प्रधान करना, सो निश्चय है और भेद को प्रधान करना, सो व्यवहार है अर्थात् आगमग्रंथ में जब निश्चय की प्रधानता हो, तब व्यवहार गौण होता है और जब व्यवहार मुख्य होता है, तब निश्चय गौण होता है। इस प्रकार आगम ग्रंथ में प्रयोजनाश्रित कहीं निश्चय प्रधान और कहीं व्यवहार प्रधान होता है।

अध्यात्मदृष्टि के ग्रंथों में तो आत्मा के शुद्धस्वभाव के बतलाने का प्रयोजन है। उनमें सर्वत्र

अभेद की ही प्रधानता से कथन होता है। अध्यात्म में शुद्धस्वभाव बतलाने का प्रयोजन है, इसलिये उसमें कहीं भी अभेद को न तो गौण किया जाता है और न भेद को मुख्य किया जाता है। अभेद को प्रधान करना, सो निश्चय है और भेद को गौण करना, सो व्यवहार है। अर्थात् अध्यात्मदृष्टि के शास्त्रों में सर्वत्र निश्चय की मुख्यता से ही कथन होता है और व्यवहार सर्वत्र गौण होता है। जो इस मुख्य-गौण की शैली को नहीं समझते, उन्हें अपनी विपरीतमान्यता से यों मालूम होता है कि 'यह एकांत निश्चय है' परंतु उनकी यह मान्यता मिथ्या है। अध्यात्म में निश्चय-व्यवहार का यह प्रयोजन है कि दोनों को यथार्थ जानने के बाद निश्चयस्वभाव की दृष्टि के द्वारा व्यवहार का लक्ष्य छोड़ देना चाहिये अर्थात् व्यवहार का निषेध कर देना चाहिये, ऐसा करने पर ही शुद्धात्मा की प्राप्ति होती है।

निश्चय और व्यवहार के ज्ञान को अनेकांत कब कह सकते हैं? यदि निश्चय-व्यवहार के द्वारा अनेकांत स्वरूप को जानकर सम्यक् एकांत ऐसे अभेद स्वभाव में ढले तो निश्चय-व्यवहार के ज्ञान को अनेकांत कह सकते हैं। क्योंकि अनेकांत का ज्ञान भी सम्यग् एकांतरूप निज पद की प्राप्ति कराने के अतिरिक्त अन्य कारण की अपेक्षा से उपकारी नहीं है। यदि स्पष्ट ज्ञान के द्वारा निश्चय-व्यवहार को जानकर निश्चयस्वभाव की ओर न झुके और व्यवहार के ही लक्ष्य में अटका रहे तो उसे सम्यक् एकांतरूप निजपद की प्राप्ति नहीं होती और इसलिये उसके निश्चय-व्यवहार का ज्ञातृत्व अनेकांत नहीं कहा जा सकता। अध्यात्मदृष्टि में तो अनेकांत को बतलाने के बाद सम्यक् एकांत स्वभाव में ढ़ालने का ही प्रयोजन है, इसलिये अध्यात्मग्रंथों में सर्वत्र अभेद ही प्रधान है और इसी के अभ्यास से शुद्धात्मा की प्राप्ति होती है। ●●

●— आनंद की बात —●

ग्रंथाधिराज श्री समयसार शास्त्र पर किये हुये पूज्य श्री कानजी स्वामी के प्रवचन एवं आत्मधर्म मासिक पत्र का हिंदी भाषांतर पंडित परमेष्ठीदास जैन देहली में 'वीर' पत्र का संपादन करते-करते कर रहे थे किन्तु ऐसे तो वह काम में वर्षों भी लग जाय। इससे दूसरा सब कार्य छोड़कर समयसार प्रवचन के भाषांतर का कार्य बहुत जल्दी से कर देने की मेरी हार्दिक इच्छा को मान्य रखकर पंडित श्री परमेष्ठीदास जैन थोड़े ही दिनों में देहली से मोटा आंकडिया आ रहे हैं। और अपना सारा समय इसी कार्य में लगाकर जितने प्रवचन ग्रंथ गुजराती में प्रगट हुये हैं और हो

रहे हैं, उनका भाषांतर का कार्य पूरा करने के लिये कृतनिश्चय हुये हैं। सर्व आत्मार्थीओं के लिये यह आनंद की बात हैं। पंडित परमेष्ठीदासजी के इस निर्णय की हम बधाई करते हैं और उनको धन्यवाद देते हैं तथा सर्वज्ञ वीतराग जिनेंद्रदेव की दिव्यध्वनि में खिरी हुई जिनवाणी को सारे संसार में सुलभ कर देने का सत् कार्य परम शांति और प्रसन्नचित्त से पूरा करें, ऐसी भावना है।

समयसार प्रवचन आदि ग्रंथों की छपाई के लिये एक नया छापाखाना जिसका नाम 'अनेकांत मुद्रणालय' रखा गया है, वह तैयार होते ही समयसार प्रवचन वगैरह कब और कैसे प्रगट होंगे-उसकी पूरी योजना प्रगट करेंगे। कृपालु ग्राहकगण धीरज रखें। —जमनादास रवाणी

दर्शनाचार और चारित्राचार

पूज्य श्री कानजी स्वामी का
प्रवचनसार गाथा १०६ के
प्रवचन का संक्षिप्त सार

वस्तु और सत्ता में कथंचित् अन्यत्व है; सम्पूर्ण वस्तु एक ही गुण के बराबर नहीं है, तथा एक गुण सम्पूर्ण वस्तुरूप नहीं है। वस्तु में कथंचित् गुणगुणी भेद है, इसलिये वस्तु के प्रत्येक गुण स्वतंत्र हैं। श्रद्धा और चारित्र गुण भिन्न-भिन्न हैं। चारित्रगुण में कषाय मंद होने से श्रद्धागुण में कोई लाभ होता हो, सो बात नहीं है। क्योंकि श्रद्धागुण और चारित्रगुण में अन्यत्व भेद है। कषाय की मंदता करना, सो चारित्रगुण की विकारी क्रिया है। श्रद्धा और चारित्रगुण में अन्यत्व भेद है, इसलिये चारित्र के विकार की मंदता, सम्यक्श्रद्धा का उपाय नहीं हो जाता; किन्तु परिपूर्ण द्रव्य स्वभाव की रुचि करना ही श्रद्धा का कारण है।

श्रद्धागुण के सुधर जाने पर भी चारित्रगुण नहीं सुधर जाता, क्योंकि श्रद्धा और चारित्रगुण भिन्न हैं। राग के कम होने से अथवा चारित्रगुण के आचार से जो जीव सम्यक्श्रद्धा का माप करना चाहते हैं, वे मिथ्यादृष्टि हैं। उन्हें वस्तुस्वरूप के गुणभेद की खबर नहीं है, क्योंकि सम्यक्दर्शन और सम्यक्चारित्र के आचार भिन्न-भिन्न हैं।

कषाय के होने पर भी सम्यक्दर्शन हो सकता है और एक भवावतारी हो सकता है; तथा

अत्यंत मंद कषाय होने पर भी यह हो सकता है कि सम्यक्दर्शन न हो और अनंत संसारी हो। अज्ञानी जीव, चारित्र के विकार को मंद करता है किन्तु उसे श्रद्धा के स्वरूप की खबर नहीं होती। पहले यथार्थ श्रद्धा के प्रगट होने के बिना कदापि भव का अंत नहीं होता। सच्ची श्रद्धा के बिना सम्यक्चारित्र का एक अंश भी प्रगट नहीं होता। ज्ञानी के विशेष चारित्र न हो, तथापि वस्तुस्वरूप की प्रतीति होने से दर्शनाचार में वह निःशंक होता है। मेरे स्वभाव में राग का अंश भी नहीं है, मैं ज्ञानस्वभाव ज्ञाता ही हूँ—जिसने ऐसी प्रतीति की है, उसके चारित्रदशा न होने पर भी दर्शनाचार सुधर गया है, उसे श्रद्धा में कदापि शंका नहीं होती। ज्ञानी को ऐसी शंका उत्पन्न नहीं होती कि 'राग होने से मेरे सम्यक्दर्शन में कहीं दोष तो नहीं आ जायगा!' ज्ञानी के ऐसी शंका हो ही नहीं सकती, क्योंकि वह जानता है कि जो राग होता है, सो चारित्र का दोष है; किन्तु चारित्र के दोष से श्रद्धागुण में मलिनता नहीं आ जाती। हाँ, जो राग होता है, उसे यदि अपना स्वरूप माने अथवा पर में सुख बुद्धि माने तो उसकी श्रद्धा में दोष आता है। यदि सच्ची प्रतीति की भूमिका में अशुभराग हो जाय तो उसका भी निषेध करता है और जानता है कि यह दोष चारित्र का है, वह मेरी श्रद्धा को हानि पहुँचाने में समर्थ नहीं है—ऐसा दर्शनाचार का अपूर्व सामर्थ्य है।

दर्शनाचार (सम्यक्दर्शन) ही सर्व प्रथम पवित्र धर्म है। अनंत परद्रव्यों के काम में मैं कुछ निमित्त भी नहीं हो सकता, अर्थात् पर से तो भिन्न, ज्ञाता ही हूँ; और आसक्ति का जो रागद्वेष है, वह भी मेरा स्वरूप नहीं है, वह मेरे श्रद्धा स्वरूप को हानि पहुँचाने में समर्थ नहीं है—ऐसा दर्शनाचार की प्रतीति का जो बल है, सो अल्प काल में मोक्ष देनेवाला है; अनंत भव का नाश करके एक भवावतारी बना देने की शक्ति दर्शनाचार में है। दर्शनाचार की प्रतीति को प्रगट किये बिना राग को कम करके अनंत बार बाह्य चारित्राचार का पालन करने पर भी, दर्शनाचार के अभाव में उसके अनंत भव दूर नहीं हो सकते। पहले दर्शनाचार के बिना कदापि धर्म नहीं हो सकता।

श्रद्धा में पर से भिन्न निवृत्तस्वरूप को मान लेने से ही समस्त रागादि की प्रवृत्ति और संयोग छूट ही जाते हों, सो बात नहीं है, क्योंकि श्रद्धागुण और चारित्रगुण में भिन्नता है, इसलिये श्रद्धागुण की निर्मलता प्रगट होने पर भी चारित्रगुण में अशुद्धता भी रहती है। यदि द्रव्य को सर्वथा एक श्रद्धा गुणरूप ही माना जाय तो श्रद्धागुण के निर्मल होने पर सारा द्रव्य सम्पूर्ण शुद्ध ही हो जाना चाहिये; किन्तु श्रद्धागुण और आत्मा में सर्वथा एकत्व-अभेद भाव नहीं है, इसलिये श्रद्धागुण और चारित्रगुण के विकास में क्रम बन जाता है। ऐसा होने पर भी गुण और द्रव्य के प्रदेशभेद न माने,

श्रद्धा और आत्मा प्रदेश की अपेक्षा से तो एक ही हैं। गुण और द्रव्य में अन्यत्व भेद होने पर भी प्रदेशभेद नहीं है। वस्तु में एक ही गुण नहीं किन्तु अनंत गुण हैं और उनमें अन्यत्व नाम का भेद है, इसीलिये श्रद्धा के होने पर तत्काल ही केवलज्ञान नहीं होता। यदि श्रद्धा होते ही तत्काल ही सम्पूर्ण केवलज्ञान हो जाये तो वस्तु अनंतगुण ही सिद्ध नहीं हो सकेंगे।

यहाँ आम का दृष्टान्त देकर अन्यत्व भेद का स्वरूप समझाते हैं—आम में रंग और रसगुण भिन्न-भिन्न हैं; रंग गुण हरीदशा को बदलकर पीलीदशा रूप होता है, तथापि रस तो खट्टा का खट्टा ही रहता है तथा रसगुण बदलकर मीठा हो जाता है, तथापि आम का रंग हरा ही रहता है क्योंकि रंग और रसगुण भिन्न-भिन्न हैं। इसी प्रकार वस्तु में दर्शनगुण के विकसित होने पर भी चारित्रगुण विकसित नहीं भी होता है। परंतु ऐसा नहीं हो सकता कि चारित्रगुण विकसित हो और दर्शनगुण विकसित न हो। स्मरण रहे कि सम्यक्दर्शन के बिना कदापि सम्यक्चारित्र नहीं हो सकता।

प्रश्न—जबकि श्रद्धा और चारित्र दोनों गुण स्वतंत्र हैं, तब ऐसा क्यों होता है ?

उत्तर—यह सच है कि गुण स्वतंत्र है परन्तु श्रद्धागुण से चारित्रगुण उच्च प्रकार का है, श्रद्धा की अपेक्षा चारित्र में विशेष पुरुषार्थ की आवश्यकता है और श्रद्धा की अपेक्षा चारित्र विशेष पूज्य है, इसलिये पहले श्रद्धा के विकसित हुए बिना चारित्रगुण विकसित हो ही नहीं सकता। जिस में श्रद्धागुण के लिये अल्प पुरुषार्थ न हो, उसमें चारित्रगुण के लिये अत्यधिक पुरुषार्थ कहाँ से हो सकता है ? पहले सम्यक्श्रद्धा को प्रगट करने का पुरुषार्थ के बाद विशेष पुरुषार्थ करने पर चारित्रदशा प्रगट होती है। श्रद्धा की अपेक्षा चारित्र का पुरुषार्थ विशेष है, इसलिये पहले श्रद्धा होती है, उसके बाद चारित्र होता है। इसलिये पहले श्रद्धा प्रगट होती है और फिर चारित्र का विकास होता है। श्रद्धागुण की क्षायिक श्रद्धारूप पर्याय होने पर भी ज्ञान और चारित्र में अपूर्णता होती है। इससे सिद्ध हुआ कि वस्तु में अनंत गुण हैं और वे सब स्वतंत्र हैं; वही अन्यत्व भेद है।

ज्ञानी के चारित्र के दोष के कारण रागद्वेष होता है, तथापि उसे अंतरंग से निरंतर यह समाधान बना रहता है कि—यह रागद्वेष परवस्तु के परिणमन के कारण नहीं किन्तु मेरे दोष से होते हैं, तथापि वह मेरा स्वरूप नहीं है; मेरी पर्याय में रागद्वेष होने से पर में कोई परिवर्तन नहीं होता। ऐसी प्रतीति होने से ज्ञानी के रागद्वेष का स्वामित्व नहीं रहता और ज्ञातृत्व का अपूर्व निराकुल संतोष हो जाता है। केवलज्ञान होने पर भी अरिहंत भगवान के प्रदेशत्वगुण की और ऊर्ध्वगमनस्वभाव की निर्मलता नहीं हैं, इसीलिये वे संसार में हैं। अघातियाकर्मों की सत्ता के कारण अरिहंत भगवान के

संसार हो, सो बात नहीं है; किन्तु अन्यत्व नामक भेद होने के कारण अभी प्रदेशत्व आदि गुण का विकार है, इसीलिये वे संसार में हैं।

जैसे—सम्यक्दर्शन के होने पर चारित्र नहीं हुआ तो वहाँ अपने चारित्रगुण की पर्याय में दोष है, श्रद्धा में दोष नहीं। चारित्र सम्बन्धी दोष अपने पुरुषार्थ की कमजोरी के कारण है, कर्म के कारण वह दोष नहीं है; इसीप्रकार केवलज्ञान के होने पर भी प्रदेशत्व सत्ता और जोग सत्ता में जो विकार रहता है, उसका कारण यह है कि समस्त गुणों में अन्यत्व नामक भेद है। प्रत्येक पर्याय की सत्ता स्वतंत्र है। यह गाथा द्रव्य-गुण-पर्याय की स्वतंत्र सत्ता को जैसा का तैसा बतलाती है। क्योंकि यह ज्ञेय अधिकार है, इसलिये प्रत्येक पदार्थ और गुण की सत्ता की स्वतंत्रता की प्रतीति कराता है। यदि प्रत्येक गुण-सत्ता और पर्याय सत्ता के अस्तित्व को ज्यों का त्यों जाने तो ज्ञान सच्चा है। निर्विकारी पर्याय अथवा विकारी पर्याय भी स्वतंत्र पर्याय सत्ता है। उसे ज्यों की त्यों जानना चाहिये। जीव जो विकार भी पर्याय में स्वतंत्र रूप से करता है, उसमें भी अपनी पर्याय का दोष कारण है। प्रत्येक द्रव्य-गुण-पर्याय की सत्ता स्वतंत्र है, तब फिर कर्म की सत्ता, आत्मा की सत्ता में क्या कर सकती है ? कर्म और आत्मा की सत्ता में तो प्रदेशभेद स्पष्ट है। दो वस्तुओं में सर्वथा पृथक्त्व भेद है।

यहाँ यह बताया है कि एक गुण के साथ दूसरे गुण का पृथक्त्व भेद न होने पर भी, उनमें अन्यत्व भेद है, इसलिये एक गुण की सत्ता में दूसरे गुण की सत्ता नहीं है। इसप्रकार यह गाथा स्व में ही अभेदत्व और भेदत्व बतलाती है। प्रदेशभेद न होने से अभेद है और गुण-गुणी की अपेक्षा से भेद है। कोई भी दो वस्तुयें लीजिये, उन दोनों में प्रदेशत्वभेद है; किन्तु एक वस्तु में जो अनंत गुण हैं, उन गुणों में एक दूसरे के साथ अन्यत्व भेद है, किन्तु पृथक्त्व भेद नहीं है।

इन दो प्रकार के भेदों के स्वरूप को समझ लेने पर अनन्त परद्रव्यों का अहंकार दूर हो जाता है और पराश्रय बुद्धि दूर होकर स्वभाव की दृढ़ता हो जाती है तथा सच्ची श्रद्धा होने पर समस्त गुणों को स्वतंत्र मान लिया जाता है, पश्चात् समस्त गुण शुद्ध हैं, ऐसी प्रतीतिपूर्वक, जो विकार होता है, उसका भी मात्र ज्ञाता ही रहता है; अर्थात् उस जीव को विकार और भव के नाश की प्रतीति हो गई है। समझ का यही अपूर्व लाभ है। ज्ञेय अधिकार में द्रव्य-गुण-पर्याय का वर्णन है; प्रत्येक गुण-पर्याय ज्ञेयरूप हैं अर्थात् अपने समस्त गुण-पर्याय का और अभेद द्रव्य का ज्ञाता हो गया, यही सम्यक्दर्शन धर्म है।

आत्महित के लिये किसी भी प्रकार का राग लाभदायक नहीं है

[श्री समयसार, मोक्ष अधिकार, गाथा २९६ पर पूज्य श्री कानजी स्वामी का प्रवचन]

इन्द्र की सुख सामग्री अथवा तीर्थंकरों की समोशरण के वेभव का वर्णन सुनकर यदि जीव उसकी रुचि करे तो समझना चाहिये कि उसे संयोग और राग के प्रति रुचि है। उस राग के द्वारा न तो आत्मा को लाभ है और न पर को भी। संयोग, राग का फल है। जिसे संयोग की और राग की रुचि है, उसे संयोग और राग रहित असंयोगी वीतराग आत्मस्वभाव की रुचि नहीं है।

यहाँ किस राग की और किस संयोग की बात की गई है ? जिस भाव से तीर्थंकर नामकर्म बँधता है तथा इन्द्र पर मिलता है, उस राग भाव में और समवसरण तथा इन्द्र पद की सामग्री में आत्मा का सुख नहीं है और उसके द्वारा निज को या पर को वास्तव में कोई लाभ नहीं है।

वह क्यों लाभदायक नहीं है ? क्योंकि शुभराग भी विकार है; उस राग से वर्तमान में अपनी अवस्था की शुद्धता रुकती है, इसलिये वर्तमान में राग से लाभ नहीं है, और उस राग के फल में जो बाह्य संयांग मिलेंगे, उन पर जबतक लक्ष्य रहेगा, तबतक वीतरागता प्रगट नहीं होगी, क्योंकि राग के अभाव से ही वीतरागता प्रगट होती है, इसलिये उस राग से भविष्य में भी लाभ नहीं है।

प्रश्न—जो जीव, तीर्थंकरनामकर्म का बंध करता है, वह तीर्थंकर-केवली पद को अवश्य पाता है; जब कि यह निश्चित हो जाता है, तब उस राग से इतना तो लाभ होता ही है न ?

उत्तर—नहीं, भविष्य में केवली होने का निर्णय उस राग से नहीं होता परन्तु सम्यक्दर्शन के बल से उस राग का निषेध हो जाता है, इसलिये ऐसा निर्णय हो जाता है कि उस राग को दूर करके अल्प काल में ही केवलज्ञान हो जायगा। इससे स्पष्ट है कि वहाँ सम्यक्दर्शन की महिमा है, राग की नहीं।

जिस राग भाव से तीर्थंकरनामकर्म को बाँधता है, उस भाव से तीर्थंकर-केवली दशा प्राप्त नहीं की जा सकती, किन्तु जो शुभाशुभराग होता है, उसे जाननेवाला जो ज्ञान है, सो मैं हूँ और जो राग है, सो मैं नहीं हूँ; इस प्रकार जिसने प्रज्ञा के द्वारा आत्मा और राग को छेदकर भिन्न किया है, वही प्रज्ञा केवलज्ञान का कारण है। प्रज्ञा अर्थात् सम्यक्ज्ञान के प्रगट होने के बाद जो तीर्थंकरनामकर्म बँध जाय, ऐसा राग होात है, वह राग को ज्ञानीजन आत्मा के रूप में स्वीकार नहीं करते किन्तु बंध के रूप में मानते हैं। जब वे बंधभाव को छेदेंगे, तब केवलज्ञान प्रगट होगा। पहले 'राग मेरा स्वरूप नहीं है' इस प्रकार श्रद्धा में राग का छेद किया, तत्पश्चात् आत्मा में स्थिरता के

द्वारा चारित्र में से भी उस राग को छेद डालना ही मुक्ति का कारण है। इससे सिद्ध हुआ कि किसी भी प्रकार का राग भाव अपने लिये वर्तमान में अथवा परंपरा से भविष्य में लाभदायक नहीं है।

हे भाई! चैतन्यस्वरूप की महिमा तो चैतन्य में ही है; किसी राग के द्वारा चैतन्य की महिमा नहीं होती। चैतन्य की महिमा को जाने बिना चाहे जितने शास्त्रों को पढ़े, तथापि वह राग और चैतन्य के भेद की प्रतीति न होने से गड़बड़ में ही पड़ा रहेगा।

जहां यह कहा जाता है कि तीर्थंकरनामकर्म का शुभराग परंपरा से मोक्ष का कारण होता है, वहाँ यह आशय समझना चाहिये कि जो राग है, सो तो बंध का ही कारण है किन्तु वर्तमान सम्यक्-दृष्टि में उस राग को स्वीकार नहीं किया जाता और उस दृष्टि के बल से क्रमशः स्थिरता करके उस राग को अवश्य दूर करेगा और फिर उस राग भाव को टालकर निश्चय से केवलज्ञान प्रगट करके मोक्ष को प्राप्त करेगा। इस प्रकार सच्ची दृष्टि की महिमा बताने के लिये उस राग को उपचार से मोक्ष का कारण कह दिया है। राग को वास्तव में मोक्ष का कारण नहीं मानना चाहिये, क्योंकि वह तो बंध का ही कारण है।

'मैं अमुक भाव करके तीर्थंकरनामकर्म का बंध करूँ'—ऐसी भावना के द्वारा कभी भी तीर्थंकरनामकर्म का बंध नहीं होता। क्योंकि जिसने इस प्रकार तीर्थंकरनामकर्म की भावना की, उसने राग की भावना करके बंध भाव की रुचि की है और स्वभाव की रुचि नहीं की, इसलिये वह मिथ्यादृष्टि है। मिथ्यादृष्टि के तीर्थंकरनामकर्म नहीं बँध सकता। पूर्ण स्वभाव की पहचान के बाद पूर्णता की भावना के विकल्प से सम्यक्दृष्टि के वह सहज ही (बिना इच्छा और बिना आदर के) बंध जाता है। किन्तु प्रभु! उस तीर्थंकरनामकर्म की रुचि से तेरे चैतन्य की रुचि का अनादर हो जाता है, इसलिये स्पष्ट निषेध कर कि पुण्य-पाप की कोई भी भावना या चाह मेरी नहीं है; मैं अपने चैतन्यस्वभाव की भावना के द्वारा समस्त शुभाशुभ को छेदकर केवलज्ञान को प्राप्त कर लूंगा।

तीर्थंकर होनेवाला जीव स्वर्ग अथवा नर्क में से चयकर मनुष्य होता है और फिर चारित्रदशा के द्वारा राग को छेदकर केवलज्ञान प्रगट करता है, तब तीर्थंकर नामकर्म के परमाणुओं के निमित्त से बाह्य में समवसरण की रचना होती है और बिना ही इच्छा के दिव्यध्वनि खिरने लगती है। तीर्थंकर का पूर्व का राग अथवा उस राग के बाह्य फलरूप समवसरण और दिव्यध्वनि अन्य जीवों के लिये भी परमार्थ से लाभ का कारण नहीं है। क्योंकि तीर्थंकर, समवसरण और दिव्यध्वनि तीनों पर वस्तु हैं। जबतक जीव का पर के ऊपर लक्ष्य रहता है, तबतक राग ही होता है। परलक्ष्य से

आत्मस्वभाव नहीं समझा जा सकता। इसलिये जिस भाव से तीर्थंकरनामकर्म बँधता है, उस राग भाव से पर को भी लाभ नहीं है। किन्तु जब जीव तीर्थंकर, समवसरण और दिव्यध्वनि इन सभी निमित्तों का लक्ष्य छोड़कर अपने स्वभाव में एकाग्र होता है, तभी वह सम्यक्दर्शन को प्राप्त करता है और तभी उसे धर्म लाभ होता है। जब जीव स्वयं अपने स्वभाव के लक्ष्य से यथार्थ समझ के द्वारा लाभ को प्राप्त करता है, तब दिव्यध्वनि इत्यादि को निमित्त कहा जाता है और तब उपचार से यह कहा जाता है कि मुझे दिव्यध्वनि से लाभ हुआ है अथवा तीर्थंकर प्रभु ने बहुत से जीवों को तार दिया है। किन्तु वास्तविक स्वरूप तो उपरोक्त प्रकार ही समझना चाहिये।

जो राग अपने लिये लाभ दायक नहीं हैं, वह दूसरे के लिये भी लाभदायक नहीं है।

प्रश्न—शुभराग के द्वारा तीर्थंकरगोत्र का बंध होता है और उसका उदय होने पर दिव्यध्वनि खिरती है, उस वाणी को सुनकर बहुत से जीव धर्म लाभ पाते हैं। इस प्रकार शुभराग के द्वारा पर को तो लाभ होता ही है न?

उत्तर—नहीं; जो जीव, धर्म को समझे हैं, वे वाणी के लक्ष्य से नहीं समझे, किन्तु भगवान और भगवान की वाणी की और जो लगन है, वह दोनों मेरा स्वरूप नहीं हैं; मैं तो चैतन्यस्वरूप आत्मा हूँ–इसप्रकार प्रज्ञा के द्वारा स्वलक्ष्य करके जब भगवान का लक्ष्य छोड़ दिया, तभी वह समझे हैं। इससे स्पष्ट है कि स्व प्रज्ञा द्वारा ही लाभ हुआ है। उस समय निमित्त के रूप में भगवान की वाणी विद्यमान थी, इसलिये उपचार से यह कहा जाता है कि भगवान की वाणी को सुनकर धर्म को समझा है।

सच तो यह है कि स्वभाव को समझ लेने के बाद भी जब तक भगवान की वाणी की ओर लक्ष्य होता है, तब तक राग दूर नहीं होता किन्तु जब प्रज्ञा के ही अभ्यास से स्वभाव का ग्रहण और राग का त्याग करता है, तभी चारित्रदशा प्रगट होती है। वहाँ वाणी का लक्ष नहीं होता। इस प्रकार भगवान का पूर्व दशा का राग अथवा उसके फलस्वरूप दिव्यध्वनि, पर जीव के लिये भी वास्तव में लाभकारक नहीं है। 'ऐसा होने पर भी प्रथम भूमिका में जब तक राग होता है, तब तक अशुभराग से बचने के लिये और ज्ञान की विशेष निर्मलता के लिये भगवान की दिव्यध्वनि का श्रवण-मननरूप से अवलंबन होता है। सम्यक्दृष्टि और गणधर भी शुभविकल्प के समय भगवान की दिव्यध्वनि का श्रवण करते हैं, किन्तु उस राग के समय भी आत्मा के स्वभाव में प्रज्ञा विद्यमान है जो कि राग का और पर का निषेध करके स्वभावोन्मुख करती है। वही प्रज्ञा सर्वत्र लाभदायक है, परन्तु राग कदापि वास्तव में लाभदायक नहीं है।

इस प्रकार मोक्ष के साधन के रूप में एकमात्र प्रज्ञा की ही-भेदविज्ञान की ही स्थापना की है और प्रज्ञा के अतिरिक्त समस्त रागभावों को बंध मार्ग के रूप में स्थापित किया है।

सम्यक्दृष्टि के शुभभाव होते तो हैं किन्तु वे उन्हें मोक्षमार्ग के रूप में नहीं मानते। अशुभ से बचने के लिये शुभभाव होते हैं। अभिप्राय के द्वारा ज्ञानस्वभाव में से शुभ और अशुभ दोनों को छेदना, सो सम्यक्दर्शन है और स्थिरता के द्वारा शुभ-अशुभ दोनों को छेदना, सो सम्यक्चारित्र है। यही मुक्ति का उपाय है। शुभभाव में धर्म नहीं है, इसका यह अर्थ नहीं समझना चाहिये कि शुभ को छोड़कर अशुभभाव करने लगें। यदि ऐसा मानकर शुभ को छोड़कर अशुभ करने लगे तो वह जीव धर्म को समझने का ही पात्र नहीं है। जहाँ मन्द कषाय को भी लाभदायक होने से इनकार किया है, वहाँ तीव्र कषाय तो लाभदायक हो ही कैसे सकती है ?

१— जो राग में धर्म मानता है, वह मिथ्यादृष्टि-बहिरात्मा है।

२— जो प्रज्ञारूपी छैनी की द्वारा ज्ञान और राग को भिन्नरूप में समझता है और राग में धर्म नहीं मानता, तथापि राग होता है, वह साधक-अन्तरात्मा है।

३— जो प्रज्ञारूपी छैनी के द्वारा ज्ञान को और राग को भिन्नरूप में समझता है और फिर ज्ञान स्वभाव की पूर्ण स्थिरता के द्वारा राग का सर्वथा क्षय करता है, वह साध्य-परमात्मा है।

ज्ञान और राग को भिन्नरूप में जानकर राग को एक अंश मात्र भी अपना नहीं मानना चाहिये, किन्तु प्रज्ञा के द्वारा ज्ञान की अधिकता और राग की हीनता करके मोक्षमार्ग में निःशंक चले जाना चाहिये; यही मुक्ति का कारण है। इसी मार्ग से चैतन्य भगवान का जैन शासन अनादि-अनंत वर्त रहा है, और साधक संतों की मंडली इसी मार्ग पर चली जा रही है। ●●

श्री समयसार कलश १-२-३ पर प्रवचन के आधार से

प्रश्नोत्तर

१. प्रश्न— इस आत्मा का क्या कर्तव्य है ?

उत्तर— इस आत्मा को सुखी होना है और सुख तो आत्मा में ही है, इसलिये आत्मा की पहिचान करना ही इस आत्मा का कर्तव्य है।

२. प्रश्न— धर्मात्मा, संसार में पतित क्यों नहीं होते ?

उत्तर— धर्मात्मा के अंतरंग में यह प्रतीति रहती है कि मेरा सुख मुझमें है; किसी परद्रव्य में तथा राग-द्वेष में मेरा सुख नहीं है, ऐसी प्रतीति के कारण वे परद्रव्यों से और परभाव से पृथक्त्वरूप में निज को सदा अनुभव करते हैं; इसलिये वे संसार में पतित नहीं होते किन्तु अल्पकाल में मुक्ति को प्राप्त होते हैं।

३. प्रश्न—आत्मा में भेदरूपता और अभेदरूपता किस तरह है ?

उत्तर—आत्मा में अनंत गुण हैं, उन गुणों का प्रत्येक का भिन्न-भिन्न कार्य है, इस तरह गुणभेद से आत्मा भेदरूप है और समस्त गुणों का आधार तो एक आत्मा ही है अर्थात् द्रव्य की अपेक्षा से आत्मा अभेदरूप है। जैसे ज्ञानगुण का कार्य जानना है और प्रतीति करना श्रद्धा-गुण का कार्य है-इस प्रकार गुण की अपेक्षा से भेद है, तथा ज्ञानगुण भी आत्मा का है और श्रद्धागुण भी आत्मा का है, इस तरह द्रव्य की अपेक्षा से आत्मा अभेदरूप है।

४. प्रश्न—आत्मा में नित्यत्व-अनित्यत्व किस प्रकार है ?

उत्तर—आत्मा द्रव्यरूप से त्रिकाल जैसा का तैसा स्थिर रहता है; इसलिये नित्य है और ज्ञानादि समस्त गुणों की अवस्था प्रति समय बदलती रहती है; इसलिये अनित्य है। जैसे आत्मा अज्ञानी में से ज्ञानी हुआ, वहाँ आत्मा तो वही का वही है; इसलिये द्रव्यरूप से नित्य है और अज्ञानदशा नष्ट होकर ज्ञानदशा उत्पन्न हुई, इसलिये पर्याय की अपेक्षा से आत्मा अनित्य है।

५. प्रश्न—यदि पर्याय की अपेक्षा से भी आत्मा को नित्य मानें तो क्या हानि है ?

उत्तर—यदि आत्मा, पर्याय की अपेक्षा से भी नित्य हो तो दु:ख दूर होकर सुख; राग नष्ट होकर वीतरागता; अज्ञान दूर होकर यथार्थ ज्ञान, इत्यादि कुछ नहीं हो सकता। और जो राग, अज्ञान इत्यादि भाव हैं, वे भी नित्य हो जायेंगे, ऐसा होने पर ज्ञान और वीतरागता नहीं हो सकेगी।

६. प्रश्न—आत्मा में एकत्व-अनेकत्व कैसे है ?

उत्तर—आत्मा में गुण-पर्याय की अपेक्षा से अनेकत्व है और द्रव्य की अपेक्षा से एकत्व है।

७. प्रश्न—आप आत्मा में भेदत्व स्वीकार करोगे या अभेदत्व ?

उत्तर—आत्मा में भेदत्व और अभेदत्व का स्वरूप ज्ञान में स्वीकार करके श्रद्धा में अभेदरूपता को स्वीकार करेंगे।

८. प्रश्न—श्रद्धा, ज्ञान, चारित्र, सुख, वीर्य और आत्मा इन सब के कार्य बताओ।

उत्तर—श्रद्धागुण का कार्य प्रतीति करना है। जानना, ज्ञानगुण का कार्य है। ज्ञान में स्थिर होना चारित्रगुण का कार्य है। आल्हाद देना, सुखगुण का कार्य है। अपने को जो रुचिकर हो, उसकी प्राप्ति का पुरुषार्थ करना वीर्यगुण का कार्य है। अपने अनंत गुण-पर्यायों को अपने में एकरूप से स्थिर रखना आत्मा का कार्य है।

९. प्रश्न—एक समय में गुण के आश्रय से और द्रव्य के आश्रय से गुण की कितनी पर्याय होती है?

उत्तर—एक समय में एक गुण के आश्रय से एक ही पर्याय होती है और द्रव्य में अनंत गुण विद्यमान हैं, इसलिये उसकी अनंत पर्यायें एक समय में एक द्रव्य के आश्रित होती हैं।

१०. प्रश्न—पर्याय और पर्यायी का क्या अर्थ है? उन का ज्ञान क्यों करना चाहिये?

उत्तर—पर्याय का अर्थ है वर्तमान हालत, अवस्था और पर्यायी का अर्थ है पर्यायरूप से रहनेवाला द्रव्य। यह जानने से यों समझ में आता है कि पर्यायरूप से रहनेवाला द्रव्य स्वयं ही है किन्तु निमित्त इत्यादि परपदार्थ द्रव्य की पर्याय के कर्ता नहीं हैं। समस्त द्रव्य स्वयं अपनी पर्याय में स्वतंत्ररूप से परिणमन करते हैं। अपनी पर्याय अपनी आत्मा में से आती है, इसलिये अपनी शुद्ध पर्याय प्रगट करने के लिये आत्मा की ओर दृष्टि करनी चाहिये।

११. प्रश्न—(१) 'आत्मा में अनंतगुण हैं, तथापि उनमें प्रदेशभेद नहीं है' और (२) 'आत्मा अनंतगुणों का पिंड है' इस कथन में कौन से धर्म आये?

उत्तर—पहले वाक्य में 'अभेदत्व और दूसरे वाक्य में एकत्व ये दो धर्म आते हैं।

१२. प्रश्न—यहाँ अशुद्धत्व को भी आत्मा का धर्म किस अपेक्षा से कहा है?

उत्तर—यहाँ सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूप अर्थ में धर्म नहीं कहा है परंतु वस्तु के गुण-पर्यायों को वस्तु का धर्म कहा है। आत्मा के गुण-पर्याय आत्मा के धर्म हैं। अशुद्धत्व भी आत्मद्रव्य की पर्याय है, इसलिये अशुद्धत्व को भी आत्मा का धर्म कहा है। आत्मा की पर्याय में अशुद्धता भी आत्मा स्वयं करता है; स्वभाव में अशुद्धता नहीं है, पर्याय में अशुद्धता क्षणिक है, द्रव्य त्रिकाल शुद्ध है; इस प्रकार यदि शुद्धता और अशुद्धता का स्वरूप समझे तो शुद्धद्रव्य के लक्ष्य से पर्याय की अशुद्धता दूर करे अर्थात् सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूप धर्म प्रगट हो।

१३. प्रश्न—वचन अगोचरधर्म किनके होते हैं, ज्ञानी या अज्ञानी के?

उत्तर—गुण तो समस्त आत्मा में समान ही हैं। जितने सिद्ध भगवान के आत्मा में गुण हैं उतने ही गुण प्रत्येक आत्मा में हैं। वचन अगोचर अनंतगुण सभी आत्माओं में समान हैं।

१४. प्रश्न—अनेकांत का क्या अर्थ है ?

उत्तर—अनेक+अंत। अनेक=बहुत, अंत=धर्म। अनेकांत का अर्थ है बहुत से धर्म। प्रत्येक वस्तु अनेकांत स्वरूप है, इसलिये प्रत्येक वस्तु में अनंतधर्म रहते हैं।

१५. प्रश्न—आत्मा में कितने धर्म होंगे ?

उत्तर—आत्मा भी वस्तु है, इसलिये उसमें अपने अनंत धर्म विद्यमान हैं ?

१६. प्रश्न—आत्मा आंखों से दिखाई नहीं देता और न हाथ से पकड़ा जा सकता है, तथापि उसे वस्तु क्यों कहा जाता है ?

उत्तर—आत्मा अरूपी है क्योंकि उसमें स्पर्श, रस, गंध इत्यादि नहीं है; इसलिये वह न तो आंखों से जाना जाता है और न हाथ से पकड़ा जा सकता है, तथापि उस में अपने ज्ञानादि अनंत गुण होते हैं, इसलिये वह भी अनंत धर्मवाली वस्तु है और ज्ञान से वह जानी जा सकती है।

१७. प्रश्न—ज्ञानी पुरुष कहते हैं कि आत्मा का धर्म त्रिकाल एक ही तरह का है, तथापि यहाँ आत्मा को अनंत धर्म वाला क्यों कहा ?

उत्तर—यहाँ मोक्षमार्गरूप धर्म की बात नहीं है परंतु वस्तु में रहनेवाले गुण-पर्यायों को तथा अपेक्षित भावों को 'धर्म' कहा गया है, वैसे अनंत धर्म प्रत्येक वस्तु में हैं, यह मोक्षमार्गरूप धर्म नहीं है क्योंकि ये धर्म तो जड़ पदार्थ में भी होते हैं। सम्यग्दर्शनादि धर्म, मोक्षमार्गरूप है, वह त्रिकाल एक ही प्रकार का है।

१८. प्रश्न—जड़ पदार्थ में ज्ञान नहीं है, तब फिर ज्ञान के बिना उनमें धर्म किस प्रकार होता है ?

उत्तर—यद्यपि जड़ पदार्थ में ज्ञान नहीं है, तथापि जड़ पदार्थ में अपने जड़रूप अनंत धर्म रहते हैं, उनमें मोक्षरूप धर्म नहीं है क्योंकि उनमें ज्ञान नहीं है। परंतु अस्तित्व, द्रव्यत्व, अरूपित्व, रूपित्व इत्यादि अनंत धर्म, जड़ पदार्थ में विद्यमान रहते हैं। अनंत धर्मों के बिना कोई भी पदार्थ हो ही नहीं सकता।

१९. प्रश्न—आत्मा में भी अनंत धर्म हैं और जड़ में भी अनंत धर्म हैं तो फिर आत्मा को जड़ से भिन्न किस तरह जाना जाता है ?

उत्तर—आत्मा के अनंत धर्मों में चेतनत्व असाधारण धर्म है, वह चेतनत्व अन्य द्रव्यों में नहीं है, इसलिये चेतन लक्षण के द्वारा आत्मा अन्य द्रव्यों से भिन्न जाना जाता है और अनंत आत्माऐं हैं, उन प्रत्येक का चेतनत्व भिन्न-भिन्न हैं; इसलिये अन्य आत्माओं से भी भिन्न निज आत्मा है, इस प्रकार अनुभव होता है।

२०. प्रश्न—तुम सरस्वती की मूर्ति को नमस्कार करते हो या नहीं ? और क्यों ?

उत्तर—'सरस्वती की मूर्ति का यथार्थ स्वरूप पहचान कर उसे नमस्कार करते हैं; अनंत धर्मवाले आत्मतत्त्व को जाननेवाला सम्यग्ज्ञान ही सरस्वती की मूर्ति है, उसमें केवलज्ञान अनंत धर्मोंवाले आत्मा को प्रत्यक्ष देखता है, इसलिये वह साक्षात् सरस्वती की मूर्ति है और श्रुतज्ञान परोक्ष रूप से देखता है, इसलिये वह भी सरस्वती की मूर्ति है। और फिर द्रव्यश्रुतरूप वाणी भी आत्मा के अनंत धर्मों को बतलानेवाली है; इसलिये वह भी सरस्वती की मूर्ति है। इसप्रकार सम्यग्ज्ञानरूपी सरस्वती की मूर्ति से सर्व जीवों का कल्याण होता है; अतः उसे नमस्कार करना योग्य है। श्री अमृतचंद्राचार्यदेव आशीर्वाद देते हैं कि 'ऐसी सरस्वती की मूर्ति सदा प्रकाशरूप रहो।' लोक में जो सरस्वती का स्वरूप माना है, वह यथार्थ नहीं है।

२१. प्रश्न—सरस्वती को नमस्कार करने का क्या अर्थ है ?

उत्तर—सरस्वती का अर्थ है सम्यग्ज्ञान। वह सम्यग्ज्ञान, आत्मस्वरूप को जिस तरह देखता है, उसी तरह आत्मा के स्वरूप की पहिचान करना अर्थात् अपने में सम्यग्ज्ञान प्रगट करके आत्मतत्त्व का अवलोकन करना ही सरस्वती को भाव नमस्कार है।

२२. प्रश्न—आत्मा में सविकल्प गुण कितने हैं और उनका स्वरूप क्या है ?

उत्तर—आत्मा में एक ज्ञानगुण ही सविकल्प है। 'सविकल्प' का अर्थ 'रागरूप विकल्प सहित' न समझना किन्तु निज को और पर को रागरहित जाननेवाला ज्ञान ही है; इसलिये वह सविकल्प है। ज्ञान के अतिरिक्त जो दूसरे गुण हैं, वे स्व-पर को जाननेवाले नहीं हैं, इसलिये वे निर्विकल्प कहे जाते हैं।

२३. प्रश्न—व्यवस्थित पर्याय किसमें, किसके आधार से और किससे होती है ?

उत्तर—समस्त वस्तुओं में व्यवस्थित पर्याय ही होती है। किसी वस्तु की पर्याय क्रम विरुद्ध नहीं होती। पदार्थ की पर्याय पदार्थ के गुणों के ही आधार से होती है, प्रत्येक पदार्थ में द्रव्यत्व नाम का गुण है, इसलिये वह स्वयं परिणमन किया करता है; और इस तरह वस्तु का

परिणमन होने से पर्याय होती है। वस्तु की पर्याय का कोई भिन्न कर्ता नहीं है।

२४. प्रश्न—नारकी जीवों को क्षण में केवलज्ञान क्यों नहीं होता, जब कि कोई परपदार्थ आत्मा को नहीं रोकते ?

उत्तर—नारकी जीवों ने अपना बहुत विपरीत पुरुषार्थ किया है और उनके विशेष राग दूर करने का वर्तमान पुरुषार्थ नहीं है, इसलिये सम्यग्दर्शन से आगे की भूमिका उनके नहीं होती।

२५. प्रश्न—कौन सा गुण यथार्थ विवेक करनेवाला है ?

उत्तर—आत्मा का ज्ञानगुण ही यथार्थ विवेक करनेवाला है।

२६. प्रश्न—सभी आत्मा ज्ञानस्वरूप हैं तो फिर वे भिन्न-भिन्न कैसे रहते हैं ?

उत्तर—समस्त आत्मा ज्ञानस्वरूप से समान हैं, तथापि उनमें अगुरुलघुगुण हैं; इसलिये किसी आत्मा का ज्ञान दूसरे में मिल नहीं जाता। ज्ञान चाहे जितना बढ़ जाय तो भी वह बढ़कर दूसरी आत्मा में नहीं मिल जाता और चाहे जितना न्यून हो जाय किन्तु उसका ज्ञानत्व मिटकर उसमें जड़त्व नहीं आ जाता। सिद्ध का ज्ञान संपूर्ण विकास को प्राप्त होने पर भी, वह सिद्ध की आत्मा के बाहर नहीं फैल जाता और निगोद का ज्ञान अत्यंत न्यून होने पर भी जड़रूप नहीं हो जाता, ऐसा अगुरुलघुगुण का स्वभाव है (अगुरुलघु का अर्थ है जो मर्यादा से बाहर न जाय और मर्यादा से घट न जाय)।

२७. प्रश्न—'चेतनत्व' कहने में आत्मा में अनंत धर्म आ जायेगे ?

उत्तर—हाँ, क्योंकि सम्यग्ज्ञान यों देखता है कि अनंतधर्म 'स्यात्' पद से एकधर्म में अविरोध रूप से रहते हैं। आत्मा को चेतनस्वरूप कहने से चेतन के अतिरिक्त दूसरे धर्मों का आत्मा में अभाव नहीं समझना चाहिये परन्तु 'स्यात्' पद के द्वारा यह समझना चाहिये कि आत्मा में चेतनत्व भी है और दूसरे भी अनंत गुण चेतनत्व के साथ ही रहा करते हैं। इस तरह स्याद्वाद के द्वारा यथार्थ समझने से 'चेतनत्व' कहने पर अनंत धर्मवाला आत्मा ध्यान में आता है।

२८. प्रश्न—आत्मा, पर को देखता है किन्तु स्वयं अपने को कैसे देख सकता है ? यह स्पष्ट समझाओ।

उत्तर—आत्मा का स्वभाव ही जानने का है, इसलिये वह स्वयं निज को जान सकता है। 'स्वानुभूत्या चकासते' अर्थात् आत्मा अपनी निर्मल ज्ञानदशा के द्वारा ही अपने स्वरूप को प्रकाशित करने वाला (जानने वाला) है। आत्मा को अपना स्वरूप जानने के लिये किसी अन्य की

सहायता नहीं लेनी पड़ती। स्व को और समस्त पर को जानने का आत्मा के ज्ञान का स्वभाव है।

और फिर आत्मा में प्रमेयत्वगुण है, इसलिये वह स्वयं अपने ज्ञान का ज्ञेय हो सकता है। यदि ज्ञान स्व को न जाने और पर को ही जानता रहे तो पर के लक्ष से राग बना ही रहे और रागवाला ज्ञान पूर्ण नहीं जान सकता परंतु अपने स्वलक्ष्य से राग को नष्ट करने का ज्ञान का स्वभाव है। स्वयं निजानुभूति के द्वारा स्व को प्रकाशित करता है और स्व के अतिरिक्त अन्य समस्त पदार्थों को भी जानता है।

२९. प्रश्न—आत्मा के स्व चतुष्टय और पर चतुष्टय का स्वरूप समझाओ ?

उत्तर—स्व चतुष्टय का अर्थ है अपना द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव और पर चतुष्टय का अर्थ है स्व से भिन्न पदार्थ के द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव। आत्मा के स्व चतुष्टय इस प्रकार हैं:—

स्वद्रव्य—सर्व परद्रव्यों के संबंध से और परभाव से रहित एकरूप आत्मा, स्वद्रव्य है।

स्वक्षेत्र—अपनी अवगाहना के अनुसार जो असंख्य प्रदेश हैं, सो आत्मा का स्वक्षेत्र है।

स्वकाल—उत्पाद-व्यय रहित अनादि-अनंत स्थिर रहकर अपनी स्वपर्याय में जो परिणमन करता है, सो आत्मा का स्वकाल है।

स्वभाव—राग-द्वेष, अज्ञान रहित शुद्ध चैतन्यस्वरूपमात्र निर्विकल्प ज्ञाता-दृष्टारूप आत्मा का स्वभाव है। इसके अतिरिक्त अन्य समस्त आत्मा की अपेक्षा से पर चतुष्टय है। प्रत्येक पदार्थ में अपने-अपने स्वचतुष्टय होते हैं।

३०. प्रश्न—जड़ वस्तु में स्वचतुष्टय किस तरह होते हैं ?

उत्तर—जड़ परमाणुओं में भी उनके जड़ स्वचतुष्टय होते हैं वे इस प्रकार हैं:—

द्रव्य=वर्ण, गंध इत्यादि गुण-पर्यायों का जो पिंड है, सो उसका स्वद्रव्य है।

क्षेत्र=अपने प्रदेशत्वगुण की पर्याय से अमुक आकार में वे रह रहे हैं, उनका जो आकार है, सो उनका स्वक्षेत्र है (अपने एक प्रदेशरूप स्वक्षेत्र है)।

काल=काली, लाल, भारी, हल्की इत्यादि अपनी पर्याय जो प्रतिसमय होती है, सो उनका स्वकाल है; परमाणुरूप से वे अनादि-अनंत स्थिर रहते हैं।

भाव=अपने में जो अनंत गुण विद्यमान हैं, वही उनका स्वभाव है।

प्रत्येक द्रव्य के स्वचतुष्टय दूसरे से बिल्कुल भिन्न हैं, इसलिये एक द्रव्य दूसरे द्रव्य में कुछ भी नहीं कर सकता।

३१. प्रश्न—श्री समयसार किसने बनाया ?

उत्तर—श्री कुंदकुंद आचार्य ने लगभग २००० वर्ष पूर्व श्री समयसार की ४१५ सूत्रों में रचना की थी। वे महान् संत निर्ग्रंथ मुनि थे।

३२. प्रश्न—इस शास्त्र का नाम समयप्राभृत क्यों रखा ?

उत्तर—समयप्राभृत का अर्थ है समयसार रूपी भेंट (नजराना)। जैसे राजा से मिलने के लिये भेंट देना पड़ती है, उसी प्रकार अपनी परम उत्कृष्ट आत्मदशास्वरूप परमात्मदशा प्रगट करने के लिये समयसार-जो सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्रस्वरूप आत्मा है, उसकी परिणतिरूप भेंट देने पर परमात्मदशा सिद्धदशा प्रगट होती है; उसका उपाय इस शास्त्र में बताया है; इसलिये उसे 'समयप्राभृत' कहते हैं।

और फिर इस शास्त्र को समयसार भी कहते हैं। समयसार का अर्थ है शुद्ध आत्मा। आत्मा के शुद्धस्वरूप को बतलानेवाला होने से इस शास्त्र को समयसार कहते हैं।

३३. प्रश्न—समयसार की प्रथम टीका किसने की ?

उत्तर—श्री अमृतचंद्राचार्यदेव ने आज से लगभग १००० वर्ष पहले ४००० श्लोक प्रमाण समयसार की 'आत्मख्याति' नाम की टीका रची है।

३४. प्रश्न—आत्मख्याति का क्या अर्थ है ?

उत्तर—आत्मख्याति का अर्थ है आत्मा की प्रसिद्धि। आत्मा का जैसा शुद्ध स्वभाव है, वैसा ही शुद्धपर्याय में प्रगट होने का नाम 'आत्मख्याति' है। यह टीका शुद्धात्मस्वभाव को प्रसिद्ध करने वाली है, अतएव उसका नाम 'आत्मख्याति' है।

३५. प्रश्न—श्री अमृतचंद्राचार्यदेव अपनी आत्मा की परमविशुद्धि कब, किसलिये, किस से और किस लक्ष्य से चाहते हैं ?

उत्तर—समयसार की टीका करते हुये आचार्यदेव तीसरे कलश में कहते हैं कि इस समयसार की (शुद्धात्मा की और ग्रंथ की) व्याख्या करने पर मेरे आत्मा की परम विशुद्धि हो जाय।

यद्यपि मेरी अनुभूति में शुद्धता प्रगट हुई है तो भी मैं अभी साधक हूँ और पूर्ण शुद्धता प्रगट नहीं हुई है, मेरी परिणति राग के द्वारा निरंतर मलिन हो रही है; इसलिये वह नष्ट होकर मेरी परिणति में परम विशुद्धि प्रगट हो-इस प्रकार आचार्यदेव संपूर्ण शुद्धदशा की वांछा करते हैं।

आचार्यदेव ने अपनी पूर्ण शुद्धता किसी दूसरे से नहीं चाही है किन्तु अपने स्वभाव में से ही

पूर्ण शुद्धता की याचना की है। यह टीका करते हुये मेरे ज्ञान में जो शुद्धात्मस्वभाव का मंथन होगा, उस मंथन के द्वारा ही मेरी परम शुद्धि प्रगट होगी, इस प्रकार आचार्यदेव शुद्धात्मा की ओर के झुकाव के बल से कहते हैं।

आचार्यदेव ने विकार के लक्ष्य से पूर्ण शुद्धता नहीं चाही किन्तु कहा है कि—'द्रव्यदृष्टि से मैं मात्र शुद्ध चैतन्य मूर्ति हूँ' इस तरह अपने शुद्ध चैतन्यमात्र स्वभाव के लक्ष्य से आचार्यदेव ने पूर्ण शुद्धता की भावना की है।

३६. प्रश्न—परम विशुद्धि का क्या अर्थ है ?

उत्तर—संपूर्ण केवलज्ञानमय रागरहित आत्मा की जो पवित्रदशा है, सो परम विशुद्धि है।

३७. प्रश्न—विशुद्धि का प्रारंभ कब होता है ?

उत्तर—द्रव्यकर्म, नोकर्म और भावकर्म रहित, सर्व प्रकार से शुद्ध आत्मस्वभाव की प्रतीति करने पर सम्यग्दर्शन प्रगट होता है, तभी से विशुद्धि का प्रारंभ होता है और तेरहवें गुणस्थान में ज्ञान इत्यादि गुणों की पूर्ण शुद्धता प्रगट हो जाने से वहाँ 'परमविशुद्धि' हुई कही जाती है।

३८. प्रश्न—अनुभव और अनुभाव्य का क्या अर्थ है ?

उत्तर—जड़कर्मों की उदयरूप अवस्था का नाम 'अनुभव' है और आत्मा में अपने स्वलक्ष्य को भूलकर जो रागादि विकारभाव होता है वह 'अनुभाव्य' है।

३९. प्रश्न—पहले सरस्वती की मूर्ति का अर्थ सम्यग्ज्ञान किया था, उसके दूसरे नाम कौन से हैं ?

उत्तर—सरस्वती की मूर्ति ज्ञानरूप तथा वचनरूप है, इसलिये उसके नाम वाणी, भारती, शारदा, वाग्देवी (वचनों में सर्व श्रेष्ठ) इत्यादि हैं।

४०. प्रश्न—आत्मा की बंध पर्याय में कौन निमित्त हैं ?

उत्तर—मोहनीय कर्म।

४१. प्रश्न—कर्म तो आत्मा का कुछ करते ही नहीं है, तथापि बंधपर्याय में उन्हें निमित्त क्यों कहा ?

उत्तर—यह बात सत्य है कि कर्म आत्मा का कुछ भी नहीं करते परंतु आत्मा में जो विकार होता है, वह आत्मा का स्वभाव नहीं है किन्तु विभाव है और विभावभाव, स्वलक्ष्य से नहीं होता किन्तु परलक्ष से ही होता है। इस प्रकार विकारी बंधभाव, आत्मा का स्वरूप नहीं है किन्तु परलक्ष्य से होनेवाला विभाव है; इस प्रकार ज्ञान कराने के लिये उनमें कर्म को निमित्त कहा जाता है।

४२. प्रश्न—आत्मा के अनंत धर्मों में से कुछ नाम बताओ।

उत्तर—ज्ञान, दर्शन, श्रद्धा, सुख, वीर्य, कर्तृत्व, भोक्तृत्व, अस्तित्व, वस्तुत्व, द्रव्यत्व, प्रमेयत्व, प्रदेशत्व, अगुरुलघुत्व इत्यादि आत्मा के अनंतधर्म (गुण) हैं। अनंत परद्रव्य हैं, उन प्रत्येक से अपना प्रथक्त्व स्थिर रखने के लिये आत्मा में अनंत अन्यत्व धर्म हैं।

४३. प्रश्न—पर्याय क्या है ?

उत्तर—त्रिकाल में वस्तु के गुणों का प्रत्येक समय का जो परिणमन है, सो पर्याय है।

४४. प्रश्न—एक पर्याय का नाश होने पर भी गुण का नाश क्यों नहीं होता ?

उत्तर—क्योंकि पर्याय स्वयं गुण नहीं है परंतु गुण का परिणमन है, इसलिये जिस समय एक पर्याय का नाश होता है, उसी समय गुण दूसरी पर्यायरूप से परिणमित हो जाता है। इस प्रकार पर्याय बदलती ही रहती है, तथापि गुण तो समस्त पर्यायों में विद्यमान रहता है।

४५. प्रश्न—सिद्ध भगवान और तुम्हारी आत्मा में किस अपेक्षा से भेद है ?

उत्तर—द्रव्य की अपेक्षा से तो सिद्ध भगवान की तरह ही मेरा आत्मा है, स्वभाव दोनों का सदृश है, परंतु सिद्ध भगवान की पर्याय में भी संपूर्ण शुद्धता प्रगट हो चुकी है और मेरी पर्याय में अभी अशुद्धता है, यह पर्याय की अपेक्षा से अंतर है।

४६. प्रश्न— साधक धर्मात्मा जीव अपने को द्रव्यदृष्टि से तथा पर्यायदृष्टि से कैसा स्वीकार करता है ?

उत्तर—साधक धर्मात्मा द्रव्यदृष्टि से तो अपने को शुद्ध सिद्ध समान ही अंगीकार करता है और पर्यायदृष्टि से मेरी पर्याय में आंशिक शुद्धता प्रगट होने पर भी, अभी आत्मा निरंतर मलिन हो रही है-इस प्रकार जानता है और द्रव्यदृष्टि के बल से वह अशुद्धता दूर करना चाहता है।

४७. प्रश्न—मंगलाचरण में शुद्धात्मा को किस प्रकार नमस्कार किया है ?

उत्तर—नमस्कार शरीर की क्रिया नहीं है परंतु आत्मा का भाव है। जिसकी जिसके प्रति रुचि होती है, वह उसे नमस्कार करता है। नमस्कार का अर्थ है अंतरंग से आदर सत्कार, उस ओर का झुकाव। जिसे नमस्कार करना हो, उसका यथार्थ स्वरूप समझे बिना यथार्थ नमस्कार नहीं हो सकता। यहाँ पहले शुद्धात्मा का स्वरूप पहचान कर फिर उसे नमस्कार किया है। जिसने शुद्धात्मा का स्वरूप पहचान कर उसे नमस्कार किया, वह अब विकारी भाव पुण्य-पाप इत्यादि का आदर नहीं करता। नमस्कार करने पर अपने शुद्धात्मस्वरूप को लक्ष में लिया है और यही प्रथम नमस्कार है। अनादि से विकार का आदर करता था और अब स्वभाव का आदर करता है, ऐसा जो यथार्थ नमस्कार है, सो धर्म है।

४८. प्रश्न—शुद्धात्मा को नमस्कार करने में मंगलिक क्या हुआ ?

उत्तर—अनादिकाल से अपने को विकारी मानकर आकुलता के दु:ख को ही भोगता था, अब अपने शुद्धात्मस्वरूप को लक्ष्य में लेकर उसका आदर किया और विकार का आदर दूर किया, उसकी अशुद्धता का आंशिक नाश हुआ और आंशिक शुद्धता प्रगट हुई–वही मंगल स्वरूप है। पहले मिथ्या श्रद्धा के कारण प्रत्येक क्षण में भावमरण से दु:खी था; अब यथार्थ समझ के द्वारा उस विपरीत श्रद्धा को दूर करके मोक्षमार्ग की ओर झुकाव किया है, वही महा मंगलिक है।

४९. प्रश्न—यह किसलिये कहा है कि विकार से आत्मा कथंचित् भिन्न है ?

उत्तर—विकार आत्मा की पर्याय में होता है, किसी जड़ में नहीं होता, परंतु विकार आत्मा का स्वभाव नहीं है, स्वभाव में विकार नहीं है; इसलिये विकार से आत्मा को कथंचित् भिन्न कहा है। परद्रव्य से आत्मा सर्वथा भिन्न है परंतु विकार से कथंचित् भिन्न है अर्थात् स्वभाव की अपेक्षा से आत्मा विकार से भिन्न है और पर्याय की अपेक्षा से आत्मा में विकार होता है।

५०. प्रश्न—आत्मा के सजातीय और विजातीय द्रव्य कौन से हैं ?

उत्तर—इस आत्मा के अतिरिक्त दूसरी अनंत आत्माऐं सजातीय द्रव्य हैं, अर्थात् जाति की अपेक्षा से वे समान हैं और दूसरे जो अजीव द्रव्य हैं, वे सब विजातीय हैं अर्थात् आत्मा से विरुद्ध स्वभाववाले जड़ हैं।

५१. प्रश्न—पंच परमेष्ठी में देव कितने और गुण कितने हैं ?

उत्तर—अरिहंत और सिद्ध दो देव हैं तथा आचार्य, उपाध्याय और साधु ये तीन गुरु हैं।

५२. प्रश्न—उन्हें परमेष्ठी क्यों कहा है ?

उत्तर—वे आत्मा के परम इष्ट निर्मल पद को प्राप्त हो चुके हैं अर्थात् वे परम आत्मस्वरूप में स्थित हैं, इसलिये वे परमेष्ठी हैं। ●●

सूचना

स्व. पंडित दीपचंदजी शाह कासलीवाल कृत 'अनुभव प्रकाश' नामक आध्यात्मिक ग्रंथ की ७०० प्रतियाँ श्री मगनलाल हीरालाल पाटनी दिगम्बर जैन पारमार्थिक ट्रस्ट मारोठ (मारवाड) के ट्रस्टियों द्वारा हिंदी आत्मधर्म मासिक पत्र के ग्राहकों को सत्धर्म प्रभावनार्थ भेजने के लिये मिली हैं।

जिन ग्राहक बंधुओं को इस ग्रंथ की स्वाध्याय के लिये जरूर हों, वे तुरन्त ही नीचे के पते पर अपना ग्राहक नंबर लिख के चिट्ठी भेजें। बिना मंगवाये यह ग्रंथ नहीं भेजा जाय।

व्यवस्थापक — आत्मधर्म कार्यालय — मोटा आंकडिया—काठियावाड़

सद्धर्म विरुद्ध पुण्य

रामजीभाई माणेकचंद दोशी

१— बहुत से जीव, धर्म करना चाहते हैं किन्तु उनमें से बहु भाग धर्म के अर्थ को ही नहीं समझता। वे अपने कुल धर्म में चले आये हुये क्रियाकांड और धर्म की मान्यताओं को विचार अथवा परीक्षा किये बिना यथार्थ मानकर तदनुसार क्रिया करते रहते हैं। वे मानते हैं कि हम शरीर की क्रिया स्वयं कर सकते हैं, इसलिये उनकी यह धारणा बन गई है कि यदि शरीर की क्रिया अमुक प्रकार की होगी तो धर्म होगा और अमुक प्रकार की होगा तो पाप होगा। किन्तु वास्तव में तो जीव, शरीर की क्रिया को कर ही नहीं सकता। शरीर के प्रत्येक रजकण की योग्यता के अनुसार जीव से भिन्न रूप में स्वतंत्रतया उसकी क्रिया होती है और उस शरीर की किसी भी क्रिया से जीव को किसी प्रकार का हानि-लाभ नहीं होता, किन्तु उस समय जीव के अपने भावों के अनुसार जीव को हानि-लाभ होता है। इस बात को वे अज्ञानी जीव नहीं समझते।

२— कई जीव यह मानते हैं कि दान, पूजा, दया, यात्रा इत्यादि से धर्म होता है। वे मानते हैं कि दान के समय रुपया-पैसा इत्यादि अपने पास से दूसरे के पास जाने की जो क्रिया हुई, उस जड़ की क्रिया से दान होता है और उससे धर्म होता है।

३— भगवान की पूजा में=उस समय पूजा की सामग्री के रूप में मानी जानेवाली अक्षत-नैवेद्य इत्यादि वस्तुयें अच्छी हों, सुरीली और सुन्दर आवाज से पूजा गाई जा रही हो तथा शरीर की उठने-बैठने की और अभिषेक इत्यादि की क्रियाओं से पूजा होती है तथा उससे धर्म होता है, ऐसा मानते हैं।

४— दया में=उस समय परजीव का मरण नहीं हुआ, उसमें अपने शरीर आदि की जो क्रिया हुई और वह जीव नहीं मरा, इसलिये दया हुई, जिससे धर्म हुआ, ऐसा मानते हैं।

५— यात्रा में=पर्वत इत्यादि जिन धर्मस्थलों को स्वयं पवित्र मानता है, उन पर चढ़ने-उतरने अथवा जाने-आने की जो शारीरिक क्रिया होती है, उसे यात्रा मानते हैं और उससे धर्म हुआ मानते हैं।

६— पहले तो शरीर इत्यादि की किसी भी क्रिया से जीव के कभी भी धर्म अथवा अधर्म नहीं होता। यदि उस समय जीव के मन्दकषाय हो तो पुण्य होता है और यदि मन्दकषाय न हो किन्तु अभिमान अथवा कौतूहल भाव इत्यादि अशुभभाव हो तो पाप होता है।

७— उन अज्ञानी जीवों के उपादान की वर्तमान योग्यता ऐसी होती है कि 'शरीर की जो-जो क्रियायें होती हैं, उन्हें जीव कर सकता है और उन क्रियाओं से तथा पुण्य से धर्म होता है' ऐसा मनवाने वाले उपदेशकों के उपदेश का निमित्त भी उन्हें स्वयं मिल जाता है।

८— किन्तु यह मान्यता सर्वथा धर्म विरुद्ध है कि जीव, शरीर की क्रिया को कर सकता है और पुण्य से धर्म होता है। जीव, शरीरादि की क्रिया कर ही नहीं सकता और मन्दकषायरूप पुण्य की प्रवृत्ति से धर्म कदापि नहीं हो सकता, तथा वह पुण्य प्रवृत्ति वर्तमान में अथवा भविष्य में कभी भी धर्म में सहायक नहीं हो सकती। यह मान्यता भी सर्वथा गलत है कि रसपूर्वक उस पुण्य क्रिया के करते-करते शुद्धपरिणामरूप धर्म हो जायगा।

९— 'पुण्य से धर्म होता है'—ऐसी मिथ्यामान्यता को दूर करने के लिये जब ऐसी सच्ची मान्यता को ग्रहण करने के लिये कहा जाता है कि 'पुण्य से धर्म कदापि नहीं होता तथा पुण्य, धर्म के लिये सहायक नहीं होता', तब कई विपरीतबुद्धिवाले जीव कह उठते हैं कि 'तब क्या हम पुण्य को छोड़कर पाप करने लगें?' वे इतना तक नहीं समझते कि जो पिता अपने बालकों को नीम की निवौरी खाने से इसलिये मना करता है कि वह कड़वी है तो वही पिता हलाहल विष खाने को कैसे कहेगा? इस बात को तो कोई बालक भी नहीं मान सकता कि जो पिता निवौरी खाने का निषेध करता है, वह हलाहल विष खाने को कहेगा। तब फिर जो श्री सर्वज्ञ वीतराग भगवान धर्म पिता हैं, वे 'पुण्य से धर्म होता है'—ऐसी मान्यता को छोड़ने के लिये कहते हैं, तब वे ही पुण्य को छोड़कर पाप करने को कहें, यह कैसे हो सकता है, क्योंकि पाप तो पुण्य से भी अधिक बुरा है। परन्तु जीव जब तक अपनी विपरीतता को नहीं छोड़ता, तब तक उसकी विपरीतमान्यता भी नहीं छूटती, क्योंकि विपरीतता में भी वह स्वतंत्र है, इसलिये 'पुण्य से धर्म नहीं होता' यह सुनकर उसके वैसे भाव (पुण्य को छोड़कर पाप करने के विपरीत भाव) हों तो वह जीव का अपना ही दोष है, धर्म पिता सर्वज्ञ वीतराग प्रभु का अथवा अन्य ज्ञानी उपदेशक का उसमें कोई दोष नहीं है।

१०— सर्वज्ञ भगवान तथा ज्ञानीजन जानते हैं कि जहाँ तक जीव वीतरागता प्रगट नहीं कर लेता, वहाँ तक उसे शुभ तथा अशुभभाव हुये बिना नहीं रह सकते। इनमें से अशुभभाव तो करने योग्य है नहीं और जो शुभभाव होते हैं, उन्हें यदि धर्म माना जाय तो वह मान्यता भी मिथ्या है। उस मिथ्यामान्यता को दूर करके, 'शुभभाव से धर्म नहीं होता' ऐसी यथार्थ मान्यता करने पर वह जीव अशुभ तथा शुभभाव को भी दूर करके शुद्धभाव को प्रगट करने का प्रयत्न करेगा और क्रम-क्रम से

शुद्धता को प्रगट करके सम्पूर्ण शुद्ध हो जायगा। संपूर्ण शुद्धता के प्रगट होने से पहले आंशिक शुद्धता और आंशिक शुभभाव रहेंगे किन्तु वह शुभ में धर्म नहीं मानता, इसलिये उसके शुद्ध भावों में वृद्धि होती जायेगी।

११— सम्यग्दर्शनरूप शुद्धभाव से ही धर्म का प्रारम्भ होता है, सम्यग्दर्शन धर्म की इकाई है, सम्यग्दर्शन के साथ सम्यग्ज्ञान का होना अवश्यम्भावी है और उन्हें लेकर क्रमशः सम्यक्चारित्र के बढ़ते-बढ़ते पूर्ण पवित्रता प्रगट हो जाती है। इस प्रकार सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्र ही मोक्ष का कारण है और पुण्य, बन्ध का कारण है।

१२— इस वस्तुस्थिति को स्पष्ट समझने के लिये शास्त्रों में धर्म की पहिचान किन विशेषणों से कराई गई है और पुण्य की पहिचान कैसे कराई गई है, इसकी स्पष्टता के लिये यहाँ एक नक्शा दिया जा रहा है:—

क्रम	सम्यग्दर्शनादि रूप धर्म के विशेषण	पुण्य के विशेषण	शास्त्राधार
१	सुशील	कुशील	समयसार गाथा १४५, १४७
२	मंगल	अशुभ	स.गा. १४५ टीका
३	सुकृत्य	दुष्कृत्य	स. कलश-२२५ के बाद की टीका
४	अमृतकुंभ	विषकुंभ	स.गा. ३०६
५	अनाकुलता को उत्पन्न करनेवाला	आकुलता को उत्पन्न करनेवाला	स.गा. ७२
६	सुख	दुख	स.गा. ७४
७	वीतराग	राग	स.गा. १५०
८	निर्विकार	विकार	स.गा. १४५ टीका
९	शुद्ध	अशुद्ध	स. गाथा १८६
१०	स्वभाव	विभाव	स. नाटक पु.पा. एकत्व द्वार सारांश ११
११	आत्म-स्वभाव की वृद्धि करनेवाला	आत्म-स्वभाव का तिरस्कार करनेवाला	स.गाथा १९ टीका, प्रव. गाथा ७७ टीका
१२	प्रसंशनीय	निंद्य	बारह भावना पृष्ठ ४०
१३	गुण	दोष	स. गा. ३८५
१४	स्वपद	अपद	स. गा. २०३
१५	धर्म	पाप	स. कलश १३७ भावार्थ, गाथा १६१-१६२-१६३ जयसैन टीका

१६	पवित्र	अशुचि	स. गा. ७२ टीका
१७	शरणभूत	अशरण	स. गा. ७४
१८	आराध्य	हेय	स.कलश १०४, गाथा ४११
१९	निर्दोष	अपराध	स. गा. ३०४
२०	धर्मचक्र	कर्मचक्र	स.गा. १५४ टीका
२१	स्वसमय	परसमय	स. गा. ३९० से ४०४ टीका
२२	भूतार्थ	अभूतार्थ	स. गा. २७५ टीका
२३	शुद्धजीव	अजीव	स. गा. ५० से ५५ टीका, गाथा २०२ टीका
२४	चेतन	अचेतन	स. गा. ५० से ५५ टीका
२५	चैतन्य स्वभावत्व	जड़ स्वभावत्व	स. गा. २३-२४-२५ टीका, गाथा ७२ टीका
२६	चैतन्य परिणाम	पुद्गल परिणाम	स. गा. ५५
२७	शुद्धात्मा	अनात्मा	स. गा. २०२ टीका, कलश २२
२८	निर्मोह	मोह	स. गा. ८७ टीका
२९	आत्म-स्वभाव की जागृति	आत्मस्वभाव की असावधानता	स. गा. ८७ टीका
३०	भावधर्म	भावकर्म	स. गा. ९२ टीका
३१	स्वद्रव्य	परद्रव्य	स. कलश १८५
३२	निर्जरा	आश्रव	स. गाथा १६५ टीका
३३	सहज	उपाधि	स. गा. ३४ टीका
३४	स्वभाव भाव	उदय भाव	स. गाथा १३३, १६३
३५	अरूपी	रूपी	स. गा. १५६ टीका
३६	मोक्षहेतु	संसार गमन हेतु	स. गा. १५४
३७	अबंध भाव	भावबंध	स. गा. १०५
३८	परम मित्ररूप भाव	विपरीत भाव	स. गा. ७२
३९	ध्रुव	अध्रुव	स. गा. ७४
४०	नित्य	अनित्य	स. गा. ७४
४१	सुखफल	दुःख फल	स. गा. ७४
४२	समता	क्लेश	स. कलश १४२
४३	अकषाय	कषाय	स.गा. १३३, १६३
४४	धर्मउद्योत्	कर्म विपाक	स. गा. १९८, १९९, २००
४५	निरंजन	सांजन (अंजनसहित)	स. गा. ९० टीका

४६	परमहित	अहित	स. ना. संवरद्वार-२, कलश-२२६ भावार्थ
४७	सहज स्वाभाविक	कृत्रिम	स. गा. ९७ टीका
४८	शुद्ध चैतन्य आस्वाद	बेस्वाद	स. गा. ९७ टीका गा. १०२ टीका
४९	अभेदभाव	भेदभाव	स. क. १४० भावार्थ
५०	ज्ञप्तिक्रिया	करोति-क्रिया	स. क. ९७
५१	मोक्षहेतु	बंध हेतु	स. क. १०५
५२	स्वाधीनता	पराधीनता	स. गा. १४७
५३	प्रशंसनीय	कुत्सित	स. गा. १५०
५४	सूक्ष्म अंतरंग शुद्ध परिणाम	अत्यन्त स्थूल विशुद्ध परिणाम	स. गा. १५४ टीका
५५	परम निष्कर्म भाव	कर्मकांड	स. गा. १५४ टीका
५६	स्वद्रव्य स्वभाव	अन्य द्रव्य स्वभाव	स. गा. १५६ टीका
५७	समस्त मैल-कलंक को धोनेवाला	कषायमेल	स. गा. १५९
५८	तत्स्वभाव	अतत् स्वभाव	स. गाथा २०३
५९	सुनिश्चल अवस्था	अनियत अवस्था	स. गा. २०३
६०	एक	अनेक	स. गा. २०३
६१	नित्य	क्षणिक	स. गा. २०३
६२	परमब्रह्मरूप	व्यभिचारी	स.गा. २०३ टीका
६३	स्थिर	अस्थाई	स. गा. २०३ टीका
६४	स्वरूप संपदा, समस्त विपत्तियों का अपद	विपदा	स. क. १३९
६५	एक ही प्रकार का रस	द्वन्दमय स्वाद	स. क. १४०
६६	परम सत्य	असत्य	स. गा. २०६ टीका
६७	कल्याण	अकल्याण	स. गा. २०६ टीका
६८	स्वयमेव पर के त्यागरूप, निष्परिग्रह	परिग्रह	स. गा. २१०
६९	निश्चयभाव	व्यवहारभाव	स. ना. बंध द्वार ३२
७०	ज्ञानचेतना	कर्मचेतना	स. गा. ३८७-८९ टीका
७१	स्वरूप में परम उत्साहभाव	प्रमादभाव	स. क. २२८ भावार्थ
७२	ज्ञानरूपी अमृतवेल का कंद	कर्मरूपी विष वृक्ष के फल	स. क. २३०
७३	निर्विकल्प उपयोग	अनउपयोग	स. गा. २३-२५ टीका, स.गा. ५८, ६० टीका

७४	मोक्षलक्ष्मी के स्वयंवर के समान उत्सव, शिव सुन्दरी	धूर्त अभिसारिका के समान	प्रव. गा. ७९
७५	निवृति	प्रवृत्ति	स. क. १८८
७६	परमशांत रस धाम	त्रष्णायतन	प्रव. गाथा ७४ टीका
७७	स्वरस, चैतन्य रस	पर रस	स. गा. ९७ टीका
७८	निजभाव, स्वभाव	परभाव	स. गा. ६९, ७० टीका
७९	एकरूप रहनेवाला	उत्पन्नध्वंसी	स. गा. २२६ टीका
८०	साधक	बाधक	स.गा. १६१-१६३ भावार्थ, स. ना. पुण्य द्वार-१३
८१	जैनधर्म	जैनधर्माभाव	अष्ट पाहुड़-भावपाहुड़-८३
८२	आराधना	विराधना	स. पृष्ठ ३६९
८३	प्रसन्नता, परम आनन्द	अप्रसन्नता	स. पृ. ३६९
८४	सकल ज्ञायक देव की कृपा	अकृपा	स. पृ. ३६९
८५	सिद्धि की प्राप्ति	असिद्धि	स. पृ. ३६९
८६	पूर्णता की प्राप्ति करानेवाला	पूर्णता की बाधा	स. पृ. ३६९
८७	अन्तर्मुख	बहिर्मुख	स.गा. मंगल उत्थानिका ४०
८८	असंयोगीभाव	संयोगीभाव	नियमसार गाथा १०२, भाव पाहुड गाथा ५९
८९	जागृत चैतन्य समुद्र	अंधकूप	स. नाटक पुण्य द्वार-६
९०	जन्म मरण रहित	कर्म रोग	स. नाटक पुण्य द्वार-७
९१	धर्म	अधर्म	स. गा. २६०-२६१ टीका (नोट-बंधक होने से अधर्म है)
९२	समाधि	असमाधि	द्रव्य संग्रह गा. ३५ टीका, समाधि तंत्र गाथा १०५ संस्कृत टीका
९३	स्थिर उपयोग, निर्विकल्प उपयोग	चपल उपयोग	स. नाटक पुण्य-पाप एकत्व द्वार १२
९४	स्थिर	अस्थिर	स. गा. २०३
९५	ज्ञानधारा	कर्मधारा	स. ना. पुण्य द्वार-१४
९६	परम नैष्कर्म्य भाव	आरंभ	स. कलश २२५
९७	आत्मस्वरूप की वृद्धि	आत्म-स्वरूप की हिंसा	स. कलश-१६९
९८	मुक्तिभाव	संसरणभाव	प्रव. गा.-१२०

९९	स्वाश्रय भाव	पराश्रयभाव	स. गा. २७२ टीका
१००	शुद्ध चित्त स्वरूप	चिदाभास	स. गा. १९४, १६५ टीका
१०१	सुगति, मोक्षगति, पंचमगति	दुर्गति	मोक्ष पाहुड़, गा. १६
१०२	सुख कारण	दु:ख कारण	स. गा. ७२
१०३	प्रशसंनीय	उपहास करनेयोग्य	नियमसार गाथा १०९ टीका
१०४	आदरणीय	निषेधनीय	स. गा. १५६
१०५	जन्म मरण से बचाने वाला	घातक	स. गा. ७४ टीका
१०६	स्वाधीनता की प्राप्ति	स्वाधीनता का नाश	स. गा. १४७
१०७	निरंतर अनुभवनीय	असत्य अनुभवनीय	स. गा. २०६ टीका
१०८	मोक्ष की नसैनी	मोक्षमार्ग की करतणी (कैंची)	स. ना. पुण्य द्वार-१२
१०९	शुद्धात्म धर्मत्व	अनात्म धर्मत्व	प्रव. गा. ७७ टीका
११०	प्रज्ञा छैनी, प्रज्ञा करवत	बेड़ी (बंध)	स. गा. २९४
१११	स्वभाव परिणति	परवृत्ति	स. कलश ११६
११२	मोक्ष फल	संसार फल	स. नाटक उत्थानिका-४०
११३	अध्यात्म पद्धति	बंध पद्धति	स. ना. पुण्य-पाप एकत्व द्वार-७

१३. 'धर्म' जीव की शुद्ध पर्याय है। वह सम्यग्दर्शन-ज्ञान और चारित्र रूप है उसे शास्त्र में (वृहत् द्रव्य संग्रह पृष्ठ २०५) निम्नलिखित ६४ नामों से कहा गया है:-

१. परम ब्रह्म स्वरूप
२. परम विष्णु स्वरूप
३. परम शिव स्वरूप
४. परम बुद्धि स्वरूप
५. परम निज स्वरूप
६. परम निज आत्मा की प्राप्ति रूप लक्षण के धारक सिद्ध स्वरूप
७. निरंजन स्वरूप
८. निर्मल स्वरूप के धारक
९. स्वसंवेदन ज्ञान
१०. परम तत्त्वज्ञान
११. शुद्धात्मा का दर्शन
१२. परम उत्कृष्ट अवस्था स्वरूप
१३. परमात्मा का दर्शन
१४. शुद्धात्म ज्ञान
१५. ध्यान करने योग्य शुद्ध पारिणामिक भाव स्वरूप
१६. ध्यान भाव स्वरूप
१७. शुद्ध चारित्र
१८. अंतरंग का तत्त्व
१९. परम उत्कृष्ट तत्त्व
२०. शुद्ध आत्म तत्त्व
२१. परम ज्योति (ज्ञान)
२२. शुद्ध आत्मा की अनुभूति
२३. आत्मा की प्रतीति
२४. आत्मा की संवित्ति (साक्षात्कार)
२५. निज आत्मस्वरूप की प्राप्ति
२६. नित्य पदार्थ की प्राप्ति
२७. परम समाधि
२८. परम आनन्द
२९. नित्य आनन्द
३०. स्वभाव से उत्पन्न आनन्द
३१. सदानन्द
३२. शुद्ध आत्मपदार्थ के पठन रूप स्वरूप का धारक

३३. परम स्वाध्याय
३४. निश्चयमोक्ष का उपाय
३५. एकाग्र चिंता निरोध (ध्यान)
३६. परम ज्ञान
३७. शुद्ध उपयोग
३८. परम योग
३९. भूतार्थ
४०. परमार्थ
४१. निश्चयनय के अनुसार ज्ञान, दर्शन, चारित्र, तप, वीर्य इन पाँच प्रकार के आचार स्वरूप
४२. समयसार
४३. अध्यात्म रस
४४. समतादिरूप निश्चयनय से छह आवश्यक हैं उस स्वरूप
४५. अभेद रत्नत्रय रूप
४६. वीतराग सामायिक
४७. परम शरण उत्तम मंगल
४८. केवलज्ञान उत्पत्ति का कारण
४९. समस्त कर्मों के नाश का कारण
५०. निश्चयनय की अपेक्षा से जो दर्शन, ज्ञान, चारित्र और तप के भेद से चार प्रकार की आराधना हैं उस स्वरूप
५१. परमात्मा की भावना रूप
५२. शुद्ध आत्मा की भावना से उत्पन्न सुख की अनुभूतिरूप परम कला
५३. दिव्य कला
५४. परम अद्वैत
५५. अमृतस्वरूप परम धर्मज्ञान
५६. शुक्ल ध्यान
५७. रागादि विकल्पों से रहित ध्यान
५८. निष्फल ध्यान
५९. परम स्वास्थ्य
६०. परम वीतरागता रूप
६१. परम समतारूप
६२. परम एकत्व
६३. परम भेदज्ञान
६४. परम समरसी भाव

१४. सम्पूर्ण रागादि विकल्पों की उपाधि से रहित और परम आह्लाद सुखरूप लक्षण का धारक जो ध्यान है, उस स्वरूप निश्चय मोक्षमार्ग के कहनेवाले इसके अतिरिक्त अन्य भी अनेक जीव पर्यायी नाम हैं, धर्मात्मा जीव के प्रगट हुये धर्म को यह सब नाम लागू होते हैं–ऐसा समझना चाहिये।

नवीन ग्राहकों से

आप इसी वर्ष से आत्मधर्म के ग्राहक हुये हैं, इसलिये आप से सानुरोध निवेदन है कि यदि आप वास्तव में आत्मधर्म का अभ्यास और मननपूर्वक पठन–पाठन करना चाहते हैं तो आत्मधर्म की प्रथम और द्वितीय वर्ष की सजिल्द फाईलें मंगाकर उनकी स्वाध्याय कीजिये। आत्मधर्म के प्रथम वर्ष के प्रथमांक से लेकर आज तक के अंकों में पाठकों की कक्षा और जिज्ञासा के अनुरूप क्रमबद्ध साहित्य दिया गया है।

प्रत्येक फाईल का मूल्य ३–१२–० डाक खर्च माफ

प्राप्तिस्थान—आत्मधर्म कार्यालय—मोटा आंकडिया—काठियावाड

मिथ्यादृष्टि का चिह्न

(समयसार मोक्ष अधिकार की
२९६ वीं गाथा के प्रवचन में से)

'स्वरूप का अनुभव कठिन है'—ऐसा माननेवाला बहिरात्मा है। जहाँ यह विचार आया कि अपना चैतन्यस्वरूप शुद्ध है, पुण्य-पाप रहित है किन्तु उसका अनुभव कठिन है, वहाँ शुद्धस्वरूप की ओर झुकने का निषेध हो जाता है और बंधन की ओर दौड़ने का बल आ जाता है। अरे भाई! कहीं अपने आत्मा का स्वरूप भी कठिन होता है? जब अवकाश मिलता है, तब पर की बातें बड़े ही उल्लास से करता है, किन्तु यदि उस समय स्वभाव की बात करें तो कौन रोकता है? किन्तु स्वयं अपने स्वरूप की रुचि नहीं है और जन्म-मरण का भय नहीं है; इसलिये आत्मस्वरूपोन्मुख होने के प्रयत्न में शल्य मानकर स्वरूप को ही कठिन मान बैठता है। अपने स्वभाव की समझ और अनुभव को कठिन मानकर उस ओर का उत्साह छोड़ दिया और शुभाशुभभाव की ओर उत्साह करने लगा; इसलिये वह विकार को सरल मानता हे और स्वभाव को कठिन मानने लगता है। उस स्वभाव का अनादर करनेवाला मिथ्यादृष्टि ही है।

अपने स्वभाव रुचि के छूटे बिना और विकार की रुचि हुये बिना ऐसा अंतरंग से माना ही नहीं जा सकता कि 'स्वभाव कठिन है और विकार सरल'। यहाँ पर अंतरंग का अर्थ रुचि अथवा उत्साह है। बोध दुर्लभ भावना को भाते हुये धर्म की दुर्लभता का विचार करे तो वहाँ स्वरूप की अरुचि नहीं रहती किन्तु वह धर्म के प्रति अपनी रुचि और पुरुषार्थ को बढ़ाने के लिये भावना करता है। 'धर्म अत्यन्त दुर्लभ है' यह धर्म का प्रयत्न छोड़ देने के लिये नहीं कहा परन्तु दुर्लभ है; इसलिये उस ओर के पुरुषार्थ में विशेष जागृति रखने के लिये ऐसा कथन किया है। जो वास्तव में स्वभाव को कठिन मानकर स्वभाव का पुरुषार्थ छोड़ देता है, वह स्वभाव का अनादर करनेवाला और विकार का आदर करनेवाला मिथ्यादृष्टि है।

यदि कोई यह कहे कि स्वरूप साधन में बाह्य संयोग बाधा देते हैं तो वह भी मिथ्यादृष्टि है। स्वयं तो स्वरूप का साधन करना नहीं है, इसलिये बहिर्दृष्टि से बाहर के दोष ढूंढ़ता है, किन्तु कोई बाह्य संयोग स्वरूप साधन को नहीं रोकते। भरत चक्रवर्ती इत्यादि के बहुत से बाह्य संयोग थे, तथापि उनके स्वभाव साधन नित्य रहता था। वर्तमान में उतना संयोग किसी के नहीं है। जिसकी रुचि-वृत्ति बाह्य में ही रमी रहती है, वही स्वरूप को कठिन मानता है, किन्तु यदि आत्मा की रुचि करके स्वयं स्वरूप को समझना चाहे तो स्वरूप अवश्य समझ में आ सकता है। समझना तो आत्मा

का स्वभाव है; कहीं जड़ के कुछ समझ में नहीं आता, किन्तु चैतन्य को सब कुछ समझ में आता है, ऐसा उसका स्वभाव है। अपने स्वरूप को समझना अपना स्वभाव ही है और इसलिये वह अवश्य हो सकता है।

यदि कोई बहिर्दृष्टि यह कहे कि प्रतिकूल संयोग स्वरूप को समझने में बाधक होते हैं तो उसकी बात भी असत्य है। कोई संयोग आत्मा के लिये बाधक हो ही नहीं सकता। अरे भाई! स्वरूप को विपरीत समझ करके विपरीत भाव कर रहा है, उस भाव में-तुझे प्रतिकूल संयोग बाधक नहीं होते और स्वरूप को समझने के लिये—अनुकूल भाव करने में तुझे प्रतिकूल संयोग बाधा देते हैं ? स्वयं जो करना नहीं है, उसमें संयोगों का अपराध बतलाता है और जो अपने को रुचता है, वह करता है, उसमें संयोगों की प्रतिकूलता को याद नहीं करता। भला यह कैसी बात है कि आत्मा की रुचि में संयोग बाधक होते हैं और संसार की रुचि में संयोग बाधक नहीं होते ? सातवें नरक में अनन्त प्रतिकूलताओं का परिकर बाह्य में होने पर भी, वहाँ के जीव भी स्वरूप की रुचि करके धर्म को प्राप्त कर सकते है। यहाँ तो उसके अनन्त में भाग भी प्रतिकूलता नहीं है। सच तो यह है कि स्वयं आत्मा की चाह नहीं है; इसलिये संयोगों को दोषी बतलाता है। यदि स्वयं समझना चाहे तो चाहे जब समझ सकता है।

परवस्तुओं का संयोग-वियोग पूर्व कृत पुण्य-पाप के अनुसार होता है, उसका कर्ता आत्मा नहीं है। संयोग की और विकार की रुचि का नाश करके अपने स्वभाव की ओर उन्मुख होना अपने पुरुषार्थ के आधीन है, स्वयं पुरुषार्थ करने में कोई निमित्त अथवा संयोग बाधक नहीं होते। स्वयं सत् को समझने की रुचि करे तो सत् के अनुकूल निमित्त स्वयं होते ही हैं। ●●

—निवेदन—

छापाखाना में मशीन और कारीगरों की मुसीबत से और देहली से मेटर आने में देरी हुई इस वजह से यह अंक बहुत ही विलंब से प्रगट होता है। धारणा तो यह थी कि श्री दशलक्षण पर्व में स्वाध्याय के लिये यह अंक जल्दी से पहुंचाया जाय लेकिन उपरोक्त कारण से मैं लाचार बन गया। आपसे क्षमा चाहता हूँ।

—जमनादास रवाणी

ATMADHARMA With the permission of the Baroda Govt. order No. 30-24 date 31-10-44 Regd. No. B. 4875

—स्तुति—

परम पूज्य श्री कानजी स्वामी के सबेरे के प्रवचन के बाद श्री पोपटभाई जैन ने सुमधुर कंठ और प्रशांत भाव से अनेक बार गाई हुई श्री सीमंधर प्रभु और भगवान आत्मा की स्तुति यहाँ दी जाती है।

ॐ जंबूद्वीपे महाविदेहे देवेन्द्रविरचितायां धर्मसभायां
विराजमानं भगवंतं अर्हंतं सीमंधरजिनेश्वरं वंदामहे
त्रिलोकनाथं सीमंधरजिनेश्वरं वंदामहे
त्रिलोकमहितं सीमंधरजिनेश्वरं वंदामहे
त्रिलोकपूज्यं सीमंधरजिनेश्वरं वंदामहे
त्रिलोकेश्वरं सीमंधरजिनेश्वरं वंदामहे
त्रिलोकोद्योतकरं सीमंधरजिनेश्वरं वंदामहे
गुणानांगुणपतिं सीमंधरजिनेश्वरं वंदामहे
प्रियाणां प्रियपतिं सीमंधरजिनेश्वरं वंदामहे
निधीनांनिधिपतिं सीमंधरजिनेश्वरं वंदामहे
शुचीनांशुचिपतिं सीमंधरजिनेश्वरं वंदामहे
व्रतानांव्रतपतिं सीमंधरजिनेश्वरं वंदामहे
दिव्य स्वभाव सुनिष्ठं सीमंधरजिनेश्वरं वंदामहे
दिव्य स्वभाव निधानं सीमंधरजिनेश्वरं वंदामहे
दिव्य दर्शन शुद्धिबिंब सीमंधरजिनेश्वरं वंदामहे
दिव्य सुविज्ञानबिंबं सीमंधरजिनेश्वरं वंदामहे
दिव्यचारित्रबिंबं सीमंधरजिनेश्वरं वंदामहे
दिव्यसामर्थ्यबिंबं सीमंधरजिनेश्वरं वंदामहे

श्रोतव्यः एकः भगवान् आत्मा — चिदानंदपूर्णं स्वरूपं भणामः — ज्ञानस्य दिव्यं स्वरूपं भणामः
विचिन्तनीयः '' '' — सदाशुद्धबुद्धं '' '' — धर्मस्य '' '' ''
विशोधनीयः '' '' — सदानिर्विकारी '' '' — सिद्धस्य '' '' ''
सुरक्षणीयः '' '' — सदानिर्विकल्पं '' '' — सौख्यस्य '' '' ''
ज्ञातव्यः एकः '' '' — सदानिष्कलंक '' '' — त्यागस्य '' '' ''
ध्यातव्य एकः '' '' — जीवत् ज्योतिपूर्णं '' '' — दानस्य '' '' ''
भोक्तव्य एकः '' ''

स्वरूपं भणामः स्वरूपं भजामः
स्वरूपं भजामः स्वरूपे जीवामः
विवेकी भूत्वाः स्वरूपं भणामः
विरागी भूत्वा स्वरूपं भणामः
असंग भूत्वा स्वरूपं भणामः
प्रशान्त भूत्वा स्वरूपं भणामः

मुद्रक : चुनीलाल माणेकचंद रवाणी, शिष्ट साहित्य मुद्रणालय, दास कुंज, मोटा आंकडिया ता.२८-९-४७
प्रकाशक : जमनादास माणेकचंद रवाणी, आत्मधर्म कार्यालय, मोटा आंकडिया, काठियावाड